5. संस्कृति एवं समाजीकरण

संस्कृति अर्थ, विशेषताएँ एवं तत्व

मनुष्य इसलिए मनुष्य है क्योंकि उसके पास उसकी संस्कृति है। उसकी संस्कृति के आधार पर ही उसे प्राणी जगत के अन्य प्राणियों से अलग किया जा सकता है। यदि मनुष्य को उसकी संस्कृति से अलग कर दिया जाये तो वह अन्य पशुओं के समान हो जायेगा। मानव ही संसार में वह प्राणी है जो अपनी विशिष्टताओं के कारण संस्कृति का निर्माण कर पाया है।

शारीरिक दृष्टि से देखा जाये तो मनुष्य बहुत विशाल या बलिष्ठ प्राणी नहीं है। मनुष्य से कहीं अधिक शक्तिशाली हाथी, घोड़े, घड़ियाल, भेड़िए, शेर आदि हैं पर मनुष्य में पर्याप्त विकसित मस्तिष्क है, जो उसे अपने अस्तित्त्व को बनाये रखने व पशुओं पर नियंत्रण कर लेने की क्षमता प्रदान करता है।

संस्कृति का अर्थ–संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। सामान्यतः संस्कृति का अर्थ 'सुसंस्कृत' होने से लगाया जाता है।

मनुष्य द्वारा परिष्कृत भाषा, अच्छा पहनावा, शालीन व्यवहार, खान–पान, रहन–सहन के तरीके, धर्म, आचार–विचार, मनोरंजन के साधन आदि के प्रयोग को संस्कृति में सम्मिलित किया जाता है। लेकिन यह संस्कृति के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण नहीं है।

संस्कृति शब्द 'संस्कृत' भाषा से लिया गया है। ''संस्कृति'' तथा 'संस्कृत' दोनों ही शब्द संस्कार से बने हैं और संस्कार का शाब्दिक अर्थ है कुछ धार्मिक क्रियाओं की पूर्ति करना अर्थात् विभिन्न संस्कारों के माध्यम से सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति।

मानवशास्त्री 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में करते हैं। उनके अनुसार संस्कृति के विभिन्न आयाम बच्चा सामूहिक जीवन में सहभागिता के द्वारा बचपन से ही सीखता रहता है। सीखकर ही एक व्यक्ति समाजीकृत प्राणी बनता है।

टायलर के अनुसार ''संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।''

इस परिभाषा में टायलर ने संस्कृति को सामाजिक विरासत माना है। जिसे मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।

हर्षकोविट्स ने संस्कृति की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए लिखा है, ''संस्कृति पर्यावरण का मानव–निर्मित भाग है।'' इस परिभाषा में हर्षकोविट्स ने स्पष्ट किया है कि सम्पूर्ण पर्यावरण को हम संस्कृति नहीं कह सकते बल्कि संस्कृति वही कहलायेगी जो मनुष्य द्वारा निर्मित है। मनुष्य द्वारा निर्मित इन वस्तुओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है एक जो मूर्त है जिन्हें छुआ जा सकता है, देखा जा सकता है तथा दूसरी वह जिन्हें देखा व छुआ नहीं जा सकता। आगबर्न ने इसी आधार पर संस्कृति के दो प्रकार बताए हैं– भौतिक व अभौतिक संस्कृति। उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर संस्कृति मानव की वह विरासत है जो उसे समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होती है। सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति अपने समाज से जो कुछ प्राप्त करता है व सीखता है वही सामाजिक ज्ञान उसकी सामाजिक विरासत कहलाता है। सीखा हुआ यही ज्ञान संस्कृति कहलाता है।

ऊपर अध्याय में संस्कृति की विभिन्न परिभाषाओं का उल्लेख किया जा चुका है। संस्कृति को और अधिक स्पष्टतः समझने के लिए हम उसकी विशेषताओं पर विचार करेंगे। संस्कृति की कुछ सर्वमान्य विशेषताएँ निम्न हैं–

1. संस्कृति मानव निर्मित है–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य ही संस्कृति का निर्माण करता है। मनुष्य में कुछ शारीरिक और मानसिक विशिष्टताएँ पाई जाती है जैसे सीधे खड़े होने की क्षमता, विकसित और मेधावी मस्तिष्क, हाथों की संरचना, गर्दन की रचना आदि जो उसे अन्य प्राणियों से विशिष्ट बनाती है। ये सभी क्षमतायें अन्य प्राणियों में नहीं पायी जाती। मानव ने इन क्षमताओं के द्वारा ही नये–नये आविष्कार किए और अपनी विभिन्न आवश्कताओं की पूर्ति भी की है। मानव के द्वारा किए गये आविष्कार व उसके अनुभव मिलकर ही संस्कृति का निर्माण करते हैं।

2. संस्कृति सीखी जाती है–संस्कृति मानव को वंशानुक्रमण में प्राप्त नहीं होती है बल्कि यह तो समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखी जाती हैं। हॉबल ने कहा है कि संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है। जब बच्चे का जन्म होता है तो वह एक जैविक प्राणी होता है। वह समाज के बारे में अनभिज्ञ होता है कि उसका जन्म कहाँ हुआ है, किस जाति में या किस परिवार में हुआ है। समाज में रहकर ही वह इन सब चीजों से परिचित होता है तथा समाज में व्यवहार करना सीखता है। व्यक्ति के सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों (Behaviour patterns) का सम्पूर्ण योग ही संस्कृति कहलाता है। जन्म के समय मानव शिशु और पशु शिशु में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। मानव शिशु संस्कृति को सीखकर ही सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होता है। संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है परन्तु प्रत्येक सीखा हुआ व्यवहार संस्कृति नहीं होता है। पशुओं में भी सीखने की क्षमता पाई जाती है। मानव के साथ रहते–रहते पशु भी बहुत कुछ व्यवहार सीख जाते हैं, किन्तु पशु द्वारा सीखा हुआ व्यवहार उसका व्यक्तिगत

है न कि सामूहिक व्यवहार का अंग। इसी कारण पशुओं द्वारा सीखा गया व्यवहार संस्कृति नहीं बन सकता। मानव के द्वारा सीखा गया व्यवहार सामूहिक है, जिन्हें हम प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों, जनरीतियों आदि के द्वारा प्रदर्शित करते हैं।

3. संस्कृति हस्तान्तरित की जाती है–चूंकि संस्कृति सीखी जा सकती है इसलिए यह आसानी से एक समूह से दूसरे समूह को, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित हो जाती है। मानव संस्कृति का हस्तान्तरण मुख्य रूप से भाषा के माध्यम से करता है। भाषा, लेखन व प्रतीक ही वह माध्यम है जिसके द्वारा मानव ज्ञान का अर्जन व अर्जित ज्ञान का हस्तान्तरण कर पाता है।

पशु मानव से कुछ व्यवहार सीख तो लेते हैं, लेकिन पशुओं में मानव की भाँति सिखाने की क्षमता का अभाव पाया जाता है। भाषा ज्ञान के अभाव के कारण वे सीखे गये व्यवहार को अन्य पशुओं को नहीं सिखा पाते। संस्कृति की इसी विशेषता के कारण मानव अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित ज्ञान को सीखता है। सीखे गये ज्ञान को परिमार्जित करता है तथा अपने द्वारा किए गये आविष्कारों व अनुभवों को संजोकर नयी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। हस्तान्तरण का यह क्रम चलता रहता है। इससे मानव का ज्ञान व संस्कृति का कोष दिनों दिन समृद्ध होता जाता है।

4. संस्कृति सामाजिक होती है– संस्कृति एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पद्धति को प्रदर्शित करती है। संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं बनाई जाती, अपितु यह सम्पूर्ण समाज की देन होती है। मानव की वही उपलब्धि संस्कृति का हिस्सा बनती है जिसमें समस्त समाज की भागीदारी होती है। कभी–कभी एक या दो व्यक्ति मिलकर किसी नयी चीज की खोज या कोई नया आविष्कार करते हैं, पर वह जब तक संस्कृति नहीं कही जा सकती तब तक कि उसे समस्त समाज मान्यता नहीं दे देता। संस्कृति में सम्मिलित परम्पराएँ, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, धर्म, दर्शन, कला, भाषा, विज्ञान आदि व्यक्तिगत जीवन विधि की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज की विधि (Way of Life) को प्रदर्शित करती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृति में सामाजिकता का गुण निहित है तथा यह समाज की देन है।

5. प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति– प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति पायी जाती है। इसका कारण यह है कि अलग–अलग समाजों में भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में भिन्नता पाई जाती है। भौगोलिक व सामाजिक विभिन्नताओं के कारण प्रत्येक समाज की आवश्कताएँ भी भिन्न–भिन्न होती है। अपनी इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव अनेक आविष्कार करता है। मानव द्वारा किए गये आविष्कार ही संस्कृति को एक नया रूप प्रदान करते हैं। अलग–अलग समाजों की आवश्यकताओं में भिन्नता होने के कारण ही प्रत्येक समाज की संस्कृति भी विशिष्ट बन जाती है। उसी संस्कृति के अनुरूप प्रत्येक समाज के सदस्यों के व्यवहारों में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है। सांस्कृतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी संस्कृति के कुछ तत्त्व सामान्यतः सभी समाजों में एक समान पाये जाते हैं। कुछ संस्थाएँ जैसे परिवार, विवाह, नातेदारी, धर्म, शिक्षा व कानून आदि सभी समाजों में देखी जा सकती हैं। इन संस्थाओं के कार्य भी सभी समाजों में लगभग एक जैसे हैं। प्रत्येक समाज में संस्कृति के कुछ तत्त्व समान होते हैं तो कुछ तत्त्व असमान भी होते हैं। ये तत्व ही प्रत्येक समाज की संस्कृति को विशिष्ट बनाते हैं।

6. संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है– मानव की अनेक शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक आवश्यकताएँ होती है। संस्कृति मानव की इन्हीं आवश्यकताओं कि पूर्ति में सहायता प्रदान करती है। प्रकार्यवादी समाजशास्त्री मैलिनोवस्की एवं रैडक्लिफ ब्राउन की मान्यता है कि संस्कृति का कोई तत्त्व बेकार नहीं होता है बल्कि वह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जब तक किसी सांस्कृतिक तत्त्व का समाज में योगदान समाप्त हो जाता है तो उसका अस्तित्व भी धीरे–धीरे समाप्त हो जाता है। वह सांस्कृतिक तत्त्व तब तक ही संस्कृति का अंग बना रहता है जब तक वह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मानव अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये–नये आविष्कार करता है। ये आविष्कार और मानव के अनुभव संस्कृति के तत्त्व बन जाते हैं। इस प्रकार मानव द्वारा निर्मित संस्कृति के विभिन्न तत्त्व व स्वयं संस्कृति मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

7. संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है– संस्कृति में अनुकूलन व परिवर्तनशीलता का गुण निहित है। संस्कृति में समय, स्थान, परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों जैसे मैदानी भागों, पहाड़ी क्षेत्रों, रेगिस्तानों, दुर्गम स्थानों, शीत प्रदेशों आदि स्थानों की संस्कृतियों में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है। पहाड़ी प्रदेशों की संस्कृति मैदानी भागों से भिन्न होती है। उसी प्रकार ठंडे प्रदेशों के लोगों की जीवनशैली एवं जनरीतियाँ गर्म प्रदेशों में रहने वालों से भिन्न होती है। इस विभिन्नता का कारण यह है कि प्रत्येक स्थान की संस्कृति ने अपनी भौतिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन कर लिया है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ संस्कृति के कुछ भागों व तत्त्वों में परिवर्तन तो लाती हैं पर पूर्ण रूप से इसको निश्चित नहीं करती हैं। संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों व इकाईयों में समय के साथ–साथ परिवर्तन होता रहता है परन्तु यह परिवर्तन यकायक न होकर अत्यन्त धीमी गति से होता है। परिवर्तन व समंजन की यही प्रक्रिया अनुकूलनशीलता कहलाती है।

8. संस्कृति एक आदर्श के रूप में– प्रत्येक समाज

या समूह के लोग अपनी संस्कृति को आदर्श मानते हैं। संस्कृति इसलिए भी आदर्श होती है कि यह किसी व्यक्ति विशेष के व्यवहार की देन न होकर सम्पूर्ण समूह के व्यवहार को प्रदर्शित करती है। ये सामूहिक व्यवहार समूह द्वारा स्वीकृत होते हैं इसीलिए ये आदर्श माने जाते हैं। प्रत्येक समूह अपने सदस्यों से इन आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने की अपेक्षा रखता है तथा इन आदर्शों के पालन के लिए लोगों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बाध्य करता है, जैसे बड़े बुजुर्गों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए उनके सामने झुकना, पाँव छूना आदि जब दो संस्कृतियों की तुलना की जाती है तो व्यक्ति अपनी संस्कृति को आदर्श बताने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ भारतीय संस्कृति व पाश्चात्य संस्कृति की तुलना जब एक भारतीय करता है तो वह अपनी ही संस्कृति को श्रेष्ठ बताता है।

9. संस्कृति व्यक्तित्व निर्माण में सहायक है–जन्म के बाद मानव शिशु एक मानव–निर्मित सांस्कृतिक पर्यावरण में प्रवेश करता है। मानव का पालन पोषण किसी न किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। इसमें रहकर ही मनुष्य अपनी संस्कृति को आत्मसात करता है। संस्कृति के अन्तर्गत प्रचलित रीति–रिवाजों, प्रथाओं, परम्पराओं, जनरीतियों, भाषा, धर्म, कला आदि का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है। इसी कारण अलग–अलग संस्कृति में पले व्यक्तियों का व्यक्तित्व एक दूसरे से भिन्न होता है क्योंकि उनका पालन पोषण भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक पर्यावरण में होता है।

प्रो. रूथ बेनेडिक्ट ने व्यक्तित्व पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभावों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है, ''व्यक्ति की संस्कृति उसे वह कच्चा माल प्रदान करती है। जिससे वह अपने जीवन का निर्माण करता है। यदि यह कच्चा माल अपर्याप्त है तो व्यक्ति का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता और यदि यह पर्याप्त है तो व्यक्ति को उसका सदुपयोग करने का अवसर मिल जाता है।'' अतः स्पष्ट है कि व्यक्तित्व और संस्कृति के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व को निश्चित दिशा व स्वरूप प्रदान करने में संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान है।

10. संस्कृति में संतुलन एवं संगठन होता है– संस्कृति का निर्माण प्रत्येक समाज में विभिन्न छोटी–छोटी इकाइयों से मिलकर होता है। विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्व एक दूसरे से पृथक न होकर आपस में बँधे हुए रहते हैं। इसीलिए ये व्यवस्थित व संतुलित होते हैं। जिन तत्त्वों से संस्कृति का निर्माण होता है, वे आपस में अनर्गल रूप से जुड़े हुए नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे तत्त्वों से सामंजस्य स्थापित करते हुए जुड़े हुए हैं। जब संस्कृति के किसी एक तत्त्व में परिवर्तन आता है तो उसका प्रभाव अन्य तत्त्वों पर भी पड़ता है।

अलग–अलग क्षेत्र में अलग–अलग सांस्कृतिक तत्त्वों का विकास होता है। क्षेत्रीय विभिन्नताओं के बावजूद संस्कृति के विभिन्न तत्त्व लोगों को जोड़ने का काम करते हैं। इससे संस्कृति में एकीकरण व संगठन पाया जाता है। जिस प्रकार से हमारा समस्त जीवन संगठित व संतुलित होता है उसी प्रकार संस्कृति के सभी तत्त्व, संकुल व प्रतिमान भी संतुलित व संगठित होते हैं। किसी भी तत्त्व का अस्तित्व अलग–थलग रहकर नहीं होता बल्कि संगठन में ही होता है। सरल, आदिम व ग्रामीण समाजों में संस्कृति की यह विशेषता अधिक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

11. संस्कृति अधि–वैयक्तिक एवं अधि–सावयवी है– प्रसिद्ध अमरीकी मानवशास्त्री क्रोबर ने संस्कृति की इस विशेषता की चर्चा करते हुए कहा है कि संस्कृति व्यक्ति एवं सावयवों से ऊपर है। यद्यपि संस्कृति का निर्माता स्वयं मानव है, परन्तु जब संस्कृति का निर्माण हो जाता है तो वह व्यक्तियों से ऊपर हो जाती है क्योंकि व्यक्ति उस संस्कृति के अनुरूप व्यवहार करता है। कोई भी अकेला व्यक्ति संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकता है बल्कि ये सम्पूर्ण समाज व संस्कृति की देन होती है। कभी–कभी कुछ समाज सुधारक समाज में कुछ मूल्यों परम्पराओं व प्रथाओं में परिवर्तन अवश्य लाते हैं परन्तु, वे सम्पूर्ण संस्कृति को परिवर्तित नहीं कर सकते हैं। संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की देन न होकर सम्पूर्ण समाज व समूह की देन होती है। इसीलिए उसमें निरन्तरता का गुण पाया जाता है।

एक व्यक्ति न तो संस्कृति का निर्माण ही कर सकता है और न ही उसमें परिवर्तन ही ला सकता है। इस अर्थ में संस्कृति अधि–वैयक्तिक होती है।

सावयवी शब्द का प्रयोग मानव व अन्य जीवित प्राणियों के लिए किया जाता है। संस्कृति का निर्माण स्वयं मानव ने किया है। चूँकि मानव एक सावयव है अतः उसके द्वारा निर्मित संस्कृति उससे अधिक होने के कारण अधि सावयवी है।

संस्कृति के उपादान
(The Components of Culture)

संस्कृति अनेक भागों, उपभागों या इकाइयों से मिलकर बनी होती है। ये इकाइयाँ आपस में संगठित व व्यवस्थित होती है। संस्कृति की रचना करने वाले ये अंग सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति संकुल, संस्कृति प्रतिमान और संस्कृति क्षेत्र कहलाते हैं। इनमें आपस में संतुलन व संगठन पाया जाता है, जिससे संस्कृति में निरन्तरता व स्थायित्व बना रहता है। संस्कृति की वह छोटी से छोटी इकाई जिसका विभाजन नहीं किया जा सकता सांस्कृतिक तत्व कहलाती है। जब अनेक सांस्कृतिक तत्व अर्थपूर्ण ढंग से मिलते हैं तो संस्कृति संकुल कहलाते हैं। संस्कृति के संस्कृति संकुलों में एक व्यवस्था पायी जाती है जिससे संस्कृति को एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। इसे सांस्कृतिक प्रतिमान कहा जाता है। सांस्कृतिक प्रतिमान का प्रसार एक विशिष्ट क्षेत्र तक होता है जो सांस्कृतिक क्षेत्र के

नाम से जाना जाता है।

संस्कृति के प्रमुख अंग या उपादान

1. सांस्कृतिक तत्व (Cultural trait or Element)
2. संस्कृति संकुल (Culture Complex)
3. संस्कृति प्रतिमान (Culture Pattern)
4. संस्कृति क्षेत्र (Culture Area)

सांस्कृतिक तत्व–संस्कृति की वह सबसे छोटी इकाई जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता, सांस्कृतिक तत्व कहलाती है। जिस प्रकार से शरीर की सबसे छोटी इकाई कोशिका (Cell), पदार्थ की छोटी से छोटी इकाई परमाणु तथा समाजिक संरचना की इकाई परिवार है, उसी प्रकार से संस्कृति की सबसे छोटी अविभाज्य इकाई सांस्कृतिक तत्व है। सांस्कृतिक तत्व किसी भी संस्कृति की सबसे छोटी इकाई है। संस्कृति के दो पक्ष होते हैं– भौतिक व अभौतिक इसलिए सांस्कृतिक तत्व भी दोनों ही प्रकार के भौतिक व अभौतिक होते हैं। भौतिक पक्ष में साइकिल, पंखा, टेबल, कुर्सी, घड़ी आदि सम्मिलित है। जबकि अभौतिक पक्ष में संकेत, विचार, प्रथा, जनरीति आदि सम्मिलित हैं। ये सभी भौतिक व अभौतिक सांस्कृतिक तत्व कहलाते हैं।

हर्षकोविट्स ने सांस्कृतिक तत्व को एक संस्कृति विशेष में पहचानी जा सकने वाली सबसे छोटी इकाई माना है।

डॉ. एस.सी. दुबे ने अपनी पुस्तक 'मानव तथा संस्कृति' में लिखा है, ''संस्कृति तत्वों को हम संस्कृति के गठन की सरलतम व्यावहारिक इकाइयाँ मान सकते हैं।''

क्रोबर इसे ''संस्कृति का अल्पतम परिभाषित तत्व'' मानते हैं।

सांस्कृतिक तत्व को समझने के लिए हम एक घड़ी का उदाहरण ले सकते हैं। घड़ी एक सांस्कृतिक तत्व है तथा मानव जीवन में इसका उपयोग समय का ज्ञान करवाने से है। जब तक घड़ी के पुर्जे यथा सुईयाँ, नम्बर, सेल आदि व्यवस्थित व संगठित रहते हैं तब तक ये उपयोगी रहते हैं। परन्तु सभी पुर्जे अलग–अलग हो जाने के बाद इनका घड़ी जैसा उपयोग नहीं हो पायेगा। चूँकि सांस्कृतिक तत्व अविभाज्य होते हैं और विभाजन होते ही वे अर्थहीन हो जाते हैं।

सांस्कृतिक तत्व की विशेषताएँ–

- सांस्कृतिक तत्व की उत्पत्ति का एक इतिहास होता है।
- सांस्कृतिक तत्व गतिशील व परिवर्तनशील होते हैं।
- सांस्कृतिक तत्व आपस में व्यवस्थित व संगठित होते हैं।

संस्कृति को समझने के लिए सांस्कृतिक तत्वों को समझना आवश्यक है। सम्पूर्ण सांस्कृतिक संरचना के सांस्कृतिक तत्व ही प्राथमिक आधार है।

सांस्कृतिक संकुल–सांस्कृतिक तत्वों का वह समूह जिसमें अनेक सांस्कृतिक तत्व आपस में अर्थपूर्ण ढंग से घुल–मिलकर मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो उसे संस्कृति संकुल कहा जाता है। सम्पूर्ण संस्कृति में अकेले सांस्कृतिक तत्व का कोई महत्व नहीं होता। अपितु कुछ सांस्कृतिक तत्व मिलकर मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। डॉ. दुबे सांस्कृतिक संकुल को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, ''संस्कृति संकुल जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, समान धर्मों अथवा पूरक संस्कृति तत्वों से मिलकर बनते हैं।'' सदरलैण्ड व वुडवर्ड के शब्दों में, ''संस्कृति संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो कि इनके अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर संबंधित होने से बनता है।''

'फुटबॉल का खेल' एक सांस्कृतिक संकुल का उदाहरण है। इसमें खिलाड़ी, फुटबॉल, खेल नियम, गेंद, खेल में दक्षता आदि सभी सांस्कृतिक तत्व आपस में अर्थपूर्ण ढंग से जुड़ते हैं तभी फुटबॉल का खेल खेला जा सकता है। इसी प्रकार परिवार, विवाह, मानव शरीर, धर्म आदि को संस्कृति संकुल के रूप में देख सकते हैं, जिनमें अनेकानेक सांस्कृतिक तत्व अर्थपूर्ण ढंग से जुड़े रहते हैं। बिना सांस्कृतिक तत्वों के सांस्कृतिक संकुल का निर्माण असंभव है।

संस्कृति प्रतिमान– रूथ बेनेडिक्ट ने अपनी पुस्तक ''पैटर्नस् ऑफ कल्चर'' में संस्कृति प्रतिमान की अवधारणा को विकसित किया। अनेक सांस्कृतिक तत्वों के योग से संस्कृति संकुल का निर्माण होता है। सांस्कृतिक तत्व व संकुल प्रकार्यात्मक रूप से संबंधित होकर जब किसी सार्थक उपादान का निर्माण करते हैं तो वह सांस्कृतिक प्रतिमान कहलाते हैं। सांस्कृतिक प्रतिमान में संस्कृति तत्व एवं संस्कृति संकुल एक विशेष प्रकार से व्यवस्थित होते हैं। हर्षकोविट्स के अनुसार, ''संस्कृति प्रतिमान एक संस्कृति के तत्वों का वह डिजाइन है जो कि उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ जीवन के इस तरीके को संबंद्धता, निरन्तरता एवं विशिष्टता प्रदान करता है।''

विवाह एक प्रतिमान है जिसमें दूल्हा, दुल्हन, मिठाई, लड्डू, कुर्सी, लाइट आदि तत्व हैं। शादी में साज–सज्जा किसी एक तत्व से न होकर अनेक तत्वों से होती है। अतः साज–सज्जा एक संकुल हुआ। इसी प्रकार अनेक संकुल, भोजन संकुल, स्वागत संकुल, फेरों का संकुल, विदा संकुल आदि अनेक संकुल होते हैं, जो मिलकर विवाह प्रतिमान को बनाते हैं।

अतः सांस्कृतिक तत्वों का अर्थपूर्ण योग संस्कृति संकुल कहलाता है। संस्कृति संकुलों का व्यवस्थित एवं अर्थपूर्ण योग संस्कृति प्रतिमान की रचना करते हैं। संस्कृति प्रतिमान ही समाज की संस्कृति का निर्माण करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि संस्कृति प्रतिमानों की सम्पूर्ण व्यवस्था ही संस्कृति है। संस्कृति प्रतिमानों के माध्यम से हम संस्कृति की विशेषताओं को सरलतापूर्वक समझ सकते हैं। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत– संयुक्त परिवार, जाति, धार्मिक सामाजिक भिन्नता,

आध्यात्मिक जीवन दर्शन आदि सभी संस्कृति प्रतिमान सम्मिलित हैं।

संस्कृति क्षेत्र– प्रत्येक संस्कृति एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक विस्तृत होती है। इस निश्चित भौगोलिक क्षेत्र जिसमें सांस्कृतिक तत्वों, संकुलों एवं प्रतिमानों का प्रसार होता है, संस्कृति क्षेत्र कहलाता है। सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग विसलर ने अमरीकी इण्डियन संस्कृतियों के अध्ययन के दौरान किया था। डॉ. दुबे के अनुसार, 'कतिपय संस्कृति तत्व या सांस्कृतिक संकुल एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर संस्कृति क्षेत्र का निर्माण करते हैं।''

हर्षकोविट्स के शब्दों में ''वह क्षेत्र जिसमें समान संस्कृतियाँ पायी जाती हैं, एक संस्कृति क्षेत्र कहलाता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रत्येक संस्कृति या उसके तत्वों का विस्तार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में होता है। चूंकि संस्कृति सीखी जा सकती है। अतः कोई भी व्यक्ति संस्कृति को सीख सकता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से एक व्यक्ति के लिए अपने क्षेत्र की संस्कृति को सीखना अधिक सरल होता है।

सांस्कृतिक तत्वों में गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता का गुण पाया जाता है। अतः वे दूसरी संस्कृति के तत्वों और संकुलों के साथ मिश्रित होकर विस्तारित होते रहते हैं। संस्कृति तत्वों के विस्तार में यातायात व संचार साधनों का भी योगदान रहता है। विभिन्न लोगों के सम्पर्क के साथ ही उनकी संस्कृति का भी आदान–प्रदान होता है।

इसलिए सांस्कृतिक क्षेत्र की कोई स्पष्ट सीमा निश्चित नहीं की जा सकती है। एक सांस्कृतिक क्षेत्र के आस–पास के क्षेत्र व प्रदेश की सांस्कृतिक विशेषताएँ दूसरे क्षेत्र में किसी न किसी रूप में अवश्य ही देखी जा सकती है।

समाजीकरण–अर्थ, चरण एवं व्यक्तित्व निर्माण

आपने देखा होगा कि जन्म के समय शिशु हाड़–माँस का ढाँचा मात्र होता है वह हाड़–माँस का ढाँचा अपने व समाज के बारे में कुछ भी नहीं जानता है। वह सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने योग्य नहीं होता है परन्तु, जैसे–जैसे वह शिशु बड़ा होता जाता है, वह अपने दैनिक जीवन में माता–पिता, भाई–बहनों, परिजनों, मित्रों, पड़ौसियों, अध्यापकों आदि के साथ रहकर सामाजिक व्यवहार करना सीखता है। समाज की संस्कृति के अनुरूप, अपने आपको ढालता जाता है। संस्कृति को सीखने व आत्मसात करने की प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहा जाता है।

समाजीकरण की यह प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है। समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही मनुष्य अपनी संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। परिवार ही वह संस्था है जो मनुष्य का परिचय सामाजिक, सांस्कृतिक व भौतिक पर्यावरण से कराती है। समाजीकरण की प्रक्रिया से ही मनुष्य समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनता है तथा समाज की गतिविधियों में भाग लेना सीखता है अर्थात् समाजीकरण ही वह प्रक्रिया है, जो मनुष्य को जैविक प्राणी से सामाजिक प्राणी बनाती है। आज मनुष्य जिस स्थिति में है वह भी इस प्रक्रिया से ही संभव हो पाया है। मनुष्य ने सभी कार्य जैसे–भाषा, रीति–रिवाज, रहन सहन, खान–पान के तरीके आदि सभी समाजीकरण के द्वारा ही ग्रहण किए हैं। अतः मनुष्य का समस्त व्यवहार सीखा हुआ है और यह समाजीकरण का ही परिणाम है।

समाजीकरण का अर्थ और परिभाषा

सीखने की वह प्रक्रिया जिसमें मानव शिशु अपने सामाजिक, सांस्कृतिक संसार से परिचित होता है, समाजीकरण कहलाती है। अधिक स्पष्ट शब्दों में समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने समूह व समाज के आदर्शों, मूल्यों, लोकाचारों और जनरीतियों को सीखता है तथा अपनी सामाजिक विरासत जिसे कि हम संस्कृति के नाम से जानते हैं, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण को विभिन्न परिभाषाओं के माध्यम से समझाया है। **जॉनसन** ने अपनी पुस्तक **''सोशियोलोजी ए सिस्टेमेटिक इन्ट्रॉडक्शन''** में समाजीकरण की परिभाषा देते हुए कहा है, ''समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने के योग्य बनाती है।'' इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। उनके अनुसार हर चीज सीखना समाजीकरण नहीं होता बल्कि सामाजिक नियमों एवं मूल्यों के अनुरूप व्यवहार करना सीखना ही समाजीकरण है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति अपनी विभिन्न सामाजिक प्रस्थितियों से परिचित होता है तथा उसके अनुरूप भूमिका निभाना भी सीखता है।

ए.डब्ल्यू. ग्रीन ने अपनी पुस्तक **'सोशियोलॉजी'** में लिखा है, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। ''इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सांस्कृतिक विशेषताओं को सीखता है तथा उनके अनुरूप अपने आप को ढालता है जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

गिलिन और गिलिन ने अपनी पुस्तक "cultural sociology" में समाजीकरण की परिभाषा देते हुए लिखा है, ''समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति, समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनता है, समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है, उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहनशक्ति की भावना विकसित

करता है।'' गिलिन व गिलिन ने अपनी परिभाषा में समाजीकरण का मुख्य कार्य व्यक्ति को समाज का सक्रिय सदस्य बनाना बताया है। उनके अनुसार समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही व्यक्ति जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से अनुकूलन करना सीखता है। साथ ही अपने आस पास रहने वाले परिजन, मित्रजन व पड़ौसियों से कैसा व्यवहार करना है यह भी समाजीकरण द्वारा सीखा जाता है। समाजीकरण की अन्य विद्वानों ने निम्न परिभाषाएँ दी है–

हारालाम्बोस के अनुसार–''वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज की संस्कृति को सीखता है, समाजीकरण के नाम से जानी जाती है।''

किम्बाल यंग के मतानुसार, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों और मानकों को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, मानदण्डों एवं समाज–सम्मत व्यवहार को सीखता है। इसी के तहत मनुष्य अपने समाज व समूह की सामाजिक व सांस्कृतिक विशेषताओं से अनुकूलन करता है।

समाजीकरण की विशेषताएँ

1. सीखने की प्रक्रिया–सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण के नाम से जानी जाती है। सभी प्रकार के व्यवहार सीखना समाजीकरण नहीं कहा जा सकता अपितु सामाजिक मूल्यों और मानदण्डों के अनुरूप किए गए व्यवहार ही समाजीकरण कहलाते हैं। उदाहरण के लिए प्रतियोगी परीक्षा पास करने के लिए कड़ी मेहनत करना, बड़े–बुजुर्गों का सम्मान करना तथा निःशक्तजनों से अच्छा व्यवहार करना इत्यादि बातें सीखना समाजीकरण है, लेकिन पाकेटमारी का हुनर हासिल करना, परीक्षा में पास होने के लिए ब्ल्यूटूथ से नकल करना, गाली देना आदि सीखना समाजीकरण नहीं है।

2. आजीवन प्रक्रिया–समाजीकरण की प्रक्रिया शैशवकाल से प्रारम्भ होकर वृद्धावस्था तक चलती है। यह आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। वृद्धावस्था की तुलना में बाल्यावस्था में व्यक्ति अधिक शीघ्रता से सीखता है। व्यक्ति अपने जीवन काल में विभिन्न प्रस्थितियाँ धारण करता है तथा उन प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिकाओं का निष्पादन करना सीखता है। जैसे बाल्यावस्था में वह अपने माता–पिता, दादा–दादी, भाई–बहन, मित्र आदि के साथ व्यवहार करना सीखता है। युवावस्था में वह पति, पिता, व्यापारी, कर्मचारी या अन्य पद धारण करता है। वृद्धावस्था में व्यक्ति दादा, नाना, श्वसुर आदि पदों के अनुरूप भूमिकाओं का निर्वाह करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाजीकरण जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को सीखता है।

3. समय व स्थान सापेक्ष–समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यवहार एक समाज में पुरस्कार के योग्य है वहीं दूसरे समाज में दण्डनीय हो सकता है। उदाहरण के लिए अफ्रीका की मसाई जनजाति में एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए एक दूसरे पर थूकते हैं। परन्तु सम्मान प्रदर्शित करने का यही तरीका यदि भारत में अपनाया जाये तो यह अनुचित माना जाएगा।

समाजीकरण की प्रक्रिया समय सापेक्ष भी है। दो भिन्न–भिन्न समयों में एक समाज व समूह के रीति–रिवाजों में बहुत अधिक परिवर्तन आ जाता है। उदाहरण के लिए प्राचीन भारतीय समाज में नव–वधू को पर्दा करना सिखाया जाता था परन्तु आधुनिक समाज में नव वधू से ऐसी अपेक्षा प्रायः नहीं की जाती।

4. संस्कृति को आत्मसात् करने की प्रक्रिया– संस्कृति को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य संस्कृति के भौतिक व अभौतिक दोनों पक्षों को सीखता है तथा सांस्कृतिक मूल्यों, मानदण्डों तथा समाज स्वीकृत व्यवहारों को आत्मसात् करता है। संस्कृति को आत्मसात् करने की इस प्रक्रिया में ही व्यक्ति के आत्म (Self) का विकास होता है। धीरे–धीरे वही संस्कृति जिसे व्यक्ति ने समाजीकरण के द्वारा सीखा है वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन जाती है।

5. समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनने की प्रक्रिया– समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही मनुष्य समाज की विभिन्न क्रियाओं को सीखता है तथा सामाजिक कार्यों में भाग लेने योग्य बनता है। किसी सामाजिक प्रस्थिति को धारण करके उसके अनुरूप भूमिका निभाना व अलग–अलग परिस्थितियों में व्यवहार करना सीखना ही समाजीकरण है। समाजीकरण की प्रक्रिया के अभाव में व्यक्ति समाज स्वीकृत व्यवहार नहीं कर सकता तथा वह समाज का सामान्य सदस्य भी नहीं बन सकता है।

6. 'आत्म' विकास की प्रक्रिया–समाजीकरण व्यक्ति के आत्म या स्व के विकास की प्रक्रिया है। व्यक्ति समाज में उसके द्वारा धारण की गई प्रस्थितियों की अपेक्षाओं के अनुरूप आचरण करता है। समाज में रहकर ही व्यक्ति के आत्म का विकास होता है। समाज उससे किस प्रकार के कार्य की अपेक्षा रखता है तथा उसके बारे में क्या सोचता है, वह उसी आधार पर व्यवहार करता है। समाजीकरण के द्वारा ही व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन समाज के लोगों के दृष्टिकोण से करना सीखता है।

7. सांस्कृतिक हस्तान्तरण–जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती है। हस्तान्तरण की यह प्रक्रिया ही समाजीकरण कहलाती है। हम

अपनी पुरानी पीढ़ी से सांस्कृतिक विरासत को सीखकर आत्मसात् करते हैं। संस्कृति हस्तान्तरण व ग्रहण की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

समाजीकरण के चरण

हम पहले पढ़ चुके हैं कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है जो बच्चे के जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है तथा जीवनपर्यन्त चलती रहती है। अत्यधिक लम्बी प्रक्रिया होने के कारण ही विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण को कई चरणों में विभाजित करने का प्रयास किया है।

गिडिन्स ने समाजीकरण के दो स्तर प्राथमिक व द्वितीयक बताये हैं। पारसन्स ने समाजीकरण को चार भागों में विभाजित किया है–

(1) मौखिकावस्था (Oral stage)
(2) शौच अवस्था (Anal stage)
(3) आडिपल स्तर (Oedipal)
(4) किशोरावस्था (Adolescence)

समाजीकरण के अन्य सोपान

(5) युवावस्था (Youth Stage)
(6) प्रौढ़ावस्था (Adult Stage)
(7) वृद्धावस्था (Old Stage)

समाजीकरण के विभिन्न स्तर निम्नलिखित हैं–

1. मौखिकावस्था–मानव शिशु जन्म के बाद विभिन्न तनावों का अनुभव करता है। उसे भूख, सर्दी, गर्मी, गीलेपन आदि से पीड़ा होती है, वह रोता चिल्लाता है। समाजीकरण के प्रथम चरण में बच्चा अपने सुख–दुःख, हाव–भाव आदि मुँह के माध्यम से ही प्रकट करता है इसलिए इसे मौखिकावस्था कहा जाता है। समाजीकरण के प्रथम चरण में बच्चा अपनी माँ के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानता है। वह अपनी माँ व स्वयं की भूमिका में अन्तर नहीं कर पाता है। इस अवस्था में बच्चा अपनी माँ को अपने से अलग नहीं समझता है। यदि माँ उससे दूर होती है तो वह मुँह के हाव–भाव से दुःख प्रकट करता है। किसी कारणवश पिता या परिवार का अन्य सदस्य बच्चे की देखभाल करता है तो वह भी माता की भूमिका ही निभाता है। इस अवस्था में बच्चा और माँ आपस में मिले हुए रहते हैं। इस स्थिति को फ्रायड़ ने 'प्राथमिक परिचय' कहा है। बच्चा अपनी माँ के शारीरिक सम्पर्क से आनन्द का अनुभव करता है। यह सोपान लगभग जन्म से डेढ़ वर्ष तक चलता है।

2. शौच अवस्था–समाजीकरण का द्वितीय स्तर शौच अवस्था है। यह अवस्था विभिन्न समाजों में अलग–अलग आयु में प्रारम्भ होती है। भारतीय समाज में यह अवस्था डेढ़ दो वर्ष से प्रारम्भ होकर तीन–चार वर्ष की आयु तक चलती है। इस अवस्था में बच्चे को शौच प्रशिक्षण दिया जाता है। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह थोड़ा आत्मनिर्भर होना सीखे जैसे–हाथों की सफाई, बिस्तर गीला न करना, कपड़े गंदे न करना, ब्रश करना, यथा स्थान पर शौच जाना आदि। यह अवस्था शौच संकट से आरम्भ होती है। इसमें माँ बच्चे को शौच के लिए शौचालयों का प्रयोग करना सिखाती है। यदि बच्चा सही व्यवहार करता है तो उसे माँ से प्यार मिलता है तथा गलत व्यवहार करने पर दण्ड। इससे माँ व बच्चे दोनों का एक दूसरे से तादात्म्य हो जाता है। वह माँ से प्यार पाता भी है तथा प्यार देता भी है। बच्चे को शौच प्रशिक्षण देने तथा स्तन पान की आदत को छुड़ाने में माँ को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। समाजीकरण की यह अवस्था माँ व बच्चे के लिए कष्टदायक होती है। माता बच्चे को शौच प्रशिक्षण देते वक्त तथा दूध छुड़ाते वक्त आनन्द का अनुभव नहीं करती लेकिन अन्तिम परिणामों को ध्यान में रखकर वह यह भावात्मक भूमिका निभाती है। इस अवस्था के अन्त में बच्चा परिवार के अन्य सदस्यों के सम्पर्क में आता है। वह बोलना, चलना, खेलना आदि सीखता है।

3. आडिपल या मातृरति स्तर– यह अवस्था सामान्यतः चौथे वर्ष से प्रारम्भ होकर बारह या तेरह वर्ष की आयु तक रहती है। मनोवैज्ञानिकों ने इस चरण को आडिपल संकट काल कहा है। यही वह काल है जिसमें बच्चे में 'आडिपल कॉम्पलैक्स' (Oedipus Complex) और इलैक्ट्रा कॉम्प्लेक्स' (Electra Comple) की भावना जन्म ले लेती है। मनोवैज्ञानिकों ने यह स्पष्ट किया है कि 'आडिपस कॉम्पलैक्स' लड़के की उस भावना को कहते हैं जिसमें पुत्र अपनी माँ के प्रति स्नेह रखता है और उस पर अपना एकाधिकार चाहता है और कुछ इसी तरह का भाव बेटी अपने पिता के प्रति रखती है जिसे 'इलेक्ट्रा कॉम्प्लेक्स' कहते है।

इस अवस्था में बच्चों से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने लिंग के अनुसार व्यवहार करे। अपने लिंग के अनुकूल व्यवहार करने पर उन्हें पुरस्कृत किया जाता है। लड़के व लड़कियों के खिलौनों व उनके पहनावे में भी भिन्नता होती है। जिससे बालक अपने विपरीत लिंग के प्रति जागरूक होता है तथा विपरीत लिंग के प्रतिरुचि बढ़ने लगती है। इस अवस्था में बालक के मन में अनेक प्रश्न उठते हैं। मन के इन अन्तरंग संकटों से बचने तथा अपने स्वतंत्र अस्तित्व की नई माँगों की स्वीकृति के लिए बालक अपने साथियों के समूह में अधिक समय व्यतीत करता है।

4. किशोरावस्था– किशोरावस्था मानव जीवन का वह संक्रांति काल है जिसमें एक किशोर को भारी तनाव व संघर्ष का सामना करना पड़ता है। इस अवस्था में बच्चे अपने माता–पिता के नियन्त्रण से अधिकाधिक मुक्त होना चाहते हैं। इस अवस्था में किशोर अपने जीव जन्य अभिप्रेरण (Bio-genic motivation) के अनुरूप व्यवहार करने व मनोभावों को पूर्ण करने की कोशिश करता है। किशोर का पारिवारिक सदस्यों की अपेक्षा अपने साथियों में अधिक मन लगता है। इस आयु में लड़के व लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से

दिखाई देने लगते हैं। इन शारीरिक व मानसिक परिवर्तनों की वजह से उनमें विभिन्न प्रकार के तनाव देखे जा सकते हैं। इन तनावों का एक कारण यह है कि किशोर इस अवस्था में ही अपने जीवन के अनेक निर्णय लेता है। जिनमें जीवन साथी का चयन, व्यवसाय या किसी नौकरी का चयन आदि सम्मिलित है। इन निर्णयों को लेते वक्त किशोर को अपनी पारिवारिक परम्पराओं और सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस अवस्था में उसे अनेक नये–नये लोगों से समायोजन करना होता है। इस दौरान ही उसमें सांस्कृतिक मूल्यों एवं व्यक्तिगत अनुभवों के द्वारा आत्म–नियन्त्रण व पराअहम् (Super ego) अर्थात् नैतिकता की भावना का विकास होता है।

समाजीकरण के अन्य सोपान

ये चार समाजीकरण के मुख्य सोपान है। हम जानते हैं कि समाजीकरण जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जो जैविक प्राणी को सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित करती है। इन चार सोपानों में ही व्यक्ति का समाजीकरण पूरा नहीं होता बल्कि अन्य तीन सोपान यथा युवावस्था, प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था में भी सीखने का क्रम चलता रहता है। यद्यपि यह सत्य है कि ये चार सोपान व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि इसमें ही व्यक्ति अपनी संस्कृति व भाषा सीखता है तथा पारिवारिक व व्यावसायिक जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय लेता है। इसके बाद की अवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया सरल व स्वचालित हो जाती है। मौखिकावस्था से किशोरावस्था तक के चार सोपानों के अलावा समाजीकरण के तीन सोपान निम्न हैं–

युवावस्था– इस अवस्था में व्यक्ति युवक बन जाता है। वह अपनी योग्यता व क्षमता के अनुकूल कोई न कोई रोजगार करने लगता है। व्यवसाय के दौरान वह विभिन्न प्रस्थितियाँ धारण करता है तथा विभिन्न पदों पर कार्यरत अधिकारियों, कर्मचारियों व अधीनस्थ पदों पर कार्यरत लोगों के साथ अलग–अलग भूमिका निभाता है। युवावस्था में ही व्यक्ति का विवाह होता है। जिससे वह वैवाहिक बंधनों में बँधकर अनेक नये पद धारण करता है, जैसे– पति, जीजा, दामाद, पिता, चाचा आदि। इन प्रस्थितियों की भूमिका अपेक्षाओं का निर्वाह उसे करना पड़ता है। एक व्यक्ति के जीवन में युवा काल सर्वाधिक उत्तरदायित्व का समय है। उससे अपने माता–पिता, छोटे भाई–बहिनों, पत्नी, पुत्र–पुत्री आदि सभी के प्रति जिम्मेदारियाँ निर्वाह की अपेक्षा की जाती है। विभिन्न भूमिकाओं को एक साथ निभाने के कारण उसे भूमिका संघर्ष का सामना करना पड़ता है।

प्रौढ़ावस्था–इस अवस्था में व्यक्ति के उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाते हैं। इसी समय बच्चों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था, विवाह तथा उनके कैरियर की चिंता आदि विभिन्न स्थितियों में व्यक्ति समायोजन करता है। वह अपने कार्य क्षेत्र में पदोन्नति प्राप्त करता है जिससे उसे नयी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति नवीन प्रस्थितियों को धारण करने के साथ–साथ भूमिकाओं का आन्तरीकरण भी आसानी से कर लेता है।

वृद्धावस्था–वृद्धावस्था में भी समाजीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है। इस अवस्था में व्यक्ति में अनेक सामाजिक, शारीरिक व मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आ जाते हैं। व्यक्ति शारीरिक रूप से दुर्बल हो जाता है, काम करने का सामर्थ्य नहीं रहता है, सेवानिवृत्ति के कारण आर्थिक निर्भरता बढ़ जाती है तथा नई पीढ़ी से वैचारिक मतभेद होने के कारण वह कुंठाग्रस्त हो जाता है। यद्यपि वह इस अवस्था से पहले ही विभिन्न जिम्मेदारियों को पूरा कर चुका होता है तथापि अब वह दादा, परदादा, नाना, श्वसुर आदि के रूप में नये पद ग्रहण कर उनके अनुरूप भूमिका निभाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है जिसमें मनुष्य जन्म से अन्तिम क्षणों तक कुछ न कुछ सीखता रहता है।

समाजीकरण की प्रमुख संस्थाएँ (अभिकरण)

मानव अपने सम्पूर्ण जीवन काल में अनेक संस्थाओं एवं समूहों का सदस्य बनता है और उनसे वह अनेक बातें सीखता है। इससे मानव के समाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। व्यक्ति अपने समाजीकरण के दौरान विभिन्न संस्थाओं से अनुकूलन करता है। व्यक्ति के समाजीकरण में प्रमुख भूमिका निभाने वाली संस्थाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(1) प्राथमिक संस्थाएँ (Primary Institutions)

(2) द्वितीयक संस्थाएँ (Secondry Institutions)

इसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

समाजीकरण की प्रमुख संस्थाएँ (अभिकरण)

प्राथमिक संस्थाएँ	**द्वितीयक संस्थाएँ**
परिवार	शिक्षण संस्थाएँ
क्रीड़ा समूह	राजनैतिक संस्थाएँ
पड़ौस	आर्थिक संस्थाएँ
नातेदारी समूह	सांस्कृतिक संस्थाएँ
विवाह	धार्मिक संस्थाएँ
	व्यावसायिक समूह

(1) परिवार– समाजीकरण करने वाली संस्थाओं में परिवार की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परिवार ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है जहाँ वह अपने माता–पिता, भाई–बहन, चाचा, बुआ, आदि के सम्पर्क में रहकर समाज के रीति–रिवाजों, लोकाचारों, प्रथाओं एवं संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करता है। परिवार के सदस्यों के साथ रहकर ही उसे विभिन्न भूमिकाओं का ज्ञान होता है तथा वह उनके अनुरूप व्यवहार करना सीखता है।

(2) क्रीड़ा समूह–प्राथमिक संस्थाओं में क्रीड़ा समूह या मित्रों का समूह भी समाजीकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

परिवार के बाद सबसे अधिक समय बच्चे अपने साथियों के साथ ही व्यतीत करते हैं। हम उम्र समूह के सदस्यों से बच्चे अनेक व्यवहार करना सीखते हैं। वे खेल के नियम, अनुशासन, प्रतिस्पर्धा, अनुकूलन, संघर्ष आदि अपने मित्र समूह से ही सीखते हैं।

(3) पड़ौस–बचपन से ही व्यक्ति अपने पड़ौसियों के सम्पर्क में रहता है। पड़ौसी समाजीकरण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। उनकी प्रशंसा व निन्दा व्यक्ति को समाज सम्मत व्यवहार करने की प्रेरणा देती है। शहरों की तुलना में गाँवों में पड़ौस का अधिक प्रभाव होता है।

(4) नातेदारी समूह–नातेदारी में रक्त व विवाह से सम्बन्धित रिश्तेदार सम्मिलित हैं। भाई–बहिन, पति–पत्नी, सास–ससुर, साले–साली, देवर–भाभी तथा अन्य रिश्तेदारों के सम्पर्क में व्यक्ति अनेक बातें सीखता है। उनके अनुरूप भूमिकाएँ निभाता है तथा आचरण के विभिन्न नियमों का ज्ञान प्राप्त करता है।

(5) विवाह–विवाह के पश्चात् व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं। विवाह के उपरान्त ही व्यक्ति को नये दायित्वों का निर्वाह करना होता है। पति–पत्नी को एक दूसरे के लिए त्याग व निष्ठा की भावना रखनी होती है। पति–पत्नी ही आगे चलकर माता–पिता व दादा–दादी बनते हैं तथा उनके पद के अनुरूप भूमिका निभाना सीखते हैं।

द्वितीयक संस्थाएँ–

(1) शिक्षण संस्थाएँ– शिक्षण संस्थाओं में बच्चा अपने अध्यापकों, पाठ्य–पुस्तकों एवं कक्षा के साथियों से अनेक बातें सीखता है। इन शिक्षण संस्थाओं के अन्तर्गत स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय आदि प्रमुख है। इन विभिन्न शिक्षण संस्थाओं में पढ़कर व्यक्ति धीरे–धीरे समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनता है तथा अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

(2) राजनैतिक संस्थाएँ– राजनैतिक संस्थाएँ व्यक्ति को अपने अधिकार एवं कर्त्तव्यों के प्रति सजग बनाती है। इन संस्थाओं के माध्यम से ही व्यक्ति कानून, शासन, अनुशासन व विभिन्न योजनाओं के बारे में ज्ञान प्राप्त कर समाज का जागरूक नागरिक बनता है।

(3) आर्थिक संस्थाएँ– आर्थिक संस्थाएँ मनुष्य के जीवन यापन एवं व्यवसायिक गतिविधियों का दिशा निर्देशन करती है। ये संस्थाएँ ही व्यक्ति को सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा एवं समायोजन के भाव सिखाती है। बेईमानी व ईमानदारी के लक्षण भी आर्थिक संस्थाओं के द्वारा ही सीखे जाते हैं।

(4) सांस्कृतिक संस्थाएँ– ये संस्थाएँ ही व्यक्ति को अपनी संस्कृति से परिचित करवाती हैं। इनके द्वारा ही व्यक्ति अपनी प्रथाओं, साहित्य, वेश–भूषा, परम्पराओं, संगीत, कला, भाषा आदि का ज्ञान प्राप्त करता है तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।

(5) धार्मिक संस्थाएँ– व्यक्ति के जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव पड़ता है। कोई भी समाज बिना धर्म के नहीं रह सकता है। धर्म के कारण ही व्यक्ति में शान्ति, पवित्रता, नैतिकता, दया, आदर्श, ईमानदारी, न्याय आदि भावनाओं का विकास होता है। पाप–पुण्य तथा स्वर्ग–नरक की धारणा लोगों को सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करने पर बल देती है।

(6) व्यवसाय समूह– व्यक्ति जिस पद अथवा व्यवसाय में कार्यरत होता है। उसी के अनुरूप आचरण करता है। वह व्यवसाय के दौरान अनेक छोटे बड़े अधिकारियों, एजेण्टों व मैनेजर आदि के सम्पर्क में आता है। इसी दौरान वह व्यावसायिक ज्ञान ग्रहण करता है तथा नवीन कार्यों की जानकारी प्राप्त करता है।

समाजीकरण के सिद्धान्त

मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण के सिद्धान्त को 'आत्म' या स्व के विकास के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। 'आत्म' कोई शारीरिक तथ्य न होकर एक मानसिक तथ्य है 'आत्म' के विकास एवं समाजीकरण से सम्बंधित कुछ सिद्धान्त निम्न है–

सी.एच. कूले का सिद्धान्त

अमरीकन समाजशास्त्री सी.एच. कूले ने अपनी पुस्तक "Human Nature and the Social Order ह्यूमन नेचर एण्ड सोशल ऑर्डर' में अपने समाजीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने अपने सिद्धान्त में स्पष्ट किया है कि कैसे कोई जैविक प्राणी सामाजिक प्राणी बनता है। व्यक्ति व समाज के सम्बन्धों के आधार पर कूले ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उनके मत में समाज में रहकर ही व्यक्ति के 'आत्म' (Self) का विकास होता है। समाज उसके लिए एक दर्पण का कार्य करता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी दर्पण में अपना स्वरूप देखने का प्रयास करता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वरूप समाजरूपी दर्पण में देखता है। समाज के लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, उसी आधार पर वह अपने बारे में धारणा बनाता है। जिस प्रकार से हम दर्पण में अपनी छवि देखकर मूल्यांकन करते हैं कि हम ठीक लग रहे हैं या नहीं, ठीक उसी प्रकार एक बच्चा भी समाज रूपी दर्पण में स्वयं की छवि देखता है और उसी आधार पर अपने बारे में राय बना लेता है कि समाज के लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं। इसी राय के आधार पर उसमें श्रेष्ठता व हीनता के भाव पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए हर व्यक्ति में यह जानने की तीव्र इच्छा होती है कि परिवार के लोग, मित्र तथा समाज में उसे किस रूप में देखा जाता है और उसके बारे में क्या सोचा जाता है। यदि लोग ये सोचते हैं कि वह बुद्धिमान, अनुशासित, आकर्षक या व्यवहार कुशल हैं तो व्यक्ति अपने बारे में श्रेष्ठता का भाव रखता है। लेकिन इसके विपरीत अगर कोई उसे मूर्ख, अनुशासनहीन, क्रोधी एवं लड़ाकू मानता है, तो व्यक्ति के मन में अपने बारे में हीनता की भावना का विकास होता है। इस

प्रकार अपने बारे में दूसरों की प्रतिक्रिया से ही व्यक्ति के 'स्व' का निर्माण होता है। इसलिए ही कूले इसे 'आत्म दर्पण दर्शन' या 'दर्पण में आत्म दर्शन' का सिद्धान्त कहते हैं।

कूले ने अपने सिद्धान्त को दर्पण में आत्म दर्शन (Looking Glass Self) के आधार पर समझाया है। कूले के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति इस प्रक्रिया में तीन चरणों से गुजरता है–

अ– व्यक्ति यह सोचता है कि समाज के लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं।

ब– दूसरों की राय के आधार पर वह अपने बारे में क्या सोचता है।

स– व्यक्ति अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता है अर्थात् ग्लानि अनुभव करता है या गर्व।

इन तीनों बातों को हॉर्टन व हण्ट ने एक उदाहरण द्वारा समझाया है। मान लीजिए आप एक कमरे में प्रवेश करते हैं, जहाँ कुछ व्यक्ति एक समूह में परस्पर बातें कर रहे हैं। आपके आते ही वे बहाना बनाकर वहाँ से चले जाते हैं और ऐसा कई बार होता है तो आपको अपने बारे में हीनता की भावना महसूस होगी। इसके विपरीत, आपके कमरे में प्रवेश करने पर सभी व्यक्ति आपको घेर लेते हैं और आपसे चर्चा करना चाहते हैं तो आपको गर्व महसूस होता है। इस प्रकार समाज के व्यक्ति हमारे प्रति जिस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। हम अपने बारे में वैसी धारणा बनाते हैं। इसे ही कूले 'आत्म दर्पण दर्शन' कहते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति का समाज के दूसरे लोगों से सम्पर्क होने से ही ''स्व'' का निर्माण होता है। ''स्व'' के निर्माण के आधार पर ही व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन करता है। इस प्रक्रिया में ही व्यक्ति अपने को श्रेष्ठ व हीन समझता है और अपना समाजीकरण करता है।

मीड का सिद्धान्त

मीड ने समाजीकरण सम्बन्धी अपना सिद्धान्त ''माइन्ड सेल्फ एण्ड सोसाइटी'' नामक पुस्तक में व्यक्त किया है। मीड यह मानते हैं कि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है, जिसमें दिमाग और 'स्व' होता है। जन्म के समय बच्चा मात्र जैविकीय प्राणी होता है, जिसमें बुद्धि का अभाव होता है। उस समय वह आन्तरिक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही क्रियाएँ करता है। समाज के सम्पर्क में रहकर ही व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है। इस प्रकार बच्चे का ''स्व'' दूसरों के व्यवहार से प्रभावित होने लगता है। इसे ही वह 'सामान्यीकृत' अन्य (Generalised Others) कहते हैं।

'सामान्यीकृत अन्य का अर्थ है किसी व्यक्ति की स्वयं के बारे में वह धारणा जो दूसरे लोग उसके बारे में रखते हैं।

अन्य शब्दों में दूसरे लोग उसके बारे में जो निर्णय लेते हैं और उससे जो अपेक्षाएँ रखते हैं, व्यक्ति उसका आंतरीकरण करता है, उसे ही ''सामान्यीकृत अन्य'' कहते हैं। मीड ने ''मैं'' (I) और ''मुझे'' (ME) दो शब्दों का प्रयोग व्यक्ति में आत्म चेतन के विकास को स्पष्ट करने के लिए किया है। ''मैं'' का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों के प्रति किए जाने वाले व्यवहार से है। ''मुझे'' से तात्पर्य व्यक्ति द्वारा किए गए व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया से है, जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है। ''मैं'' और ''मुझे'' में अन्तः क्रिया के कारण ही 'स्व' का विकास होता है, जिससे व्यक्ति का समाजीकरण होता है।

समाज से सम्पर्क के कारण बालक जो कुछ सीखता है, उसे वह दुबारा अपनाने का प्रयत्न करता है। उदाहरण स्वरूप बच्चा खेल के दौरान अपने माता–पिता, चोर–पुलिस आदि बनकर भूमिकाओं को निभाता है और वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा कि उनके साथ वास्तविक जीवन में होता है। बच्चा दूसरे के व्यवहारों को अनुकरण, संकेत एवं भाषा के माध्यम से ग्रहण करता है। धीरे–धीरे उसमें विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ निभाने की क्षमता पैदा हो जाती है, इसे ही मीड ने ''आत्म का विकास'' कहा है।

कुछ विद्वानों ने सामान्यीकृत अन्य के स्थान पर 'महत्वपूर्ण अन्य' की अवधारणा का प्रयोग किया है। 'महत्वपूर्ण अन्य' वह व्यक्ति होता है जिसकी स्वीकृति हम अपने व्यवहार में चाहते हैं और जिसका निर्देशन हम स्वीकार करते हैं। ये माता–पिता, अध्यापक, प्रशंसनीय व्यक्ति या मित्र हो सकता है। व्यक्ति 'महत्वपूर्ण अन्य' के मार्गदर्शन में अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है

जब व्यक्ति 'महत्वपूर्ण अन्य' से सम्मान प्राप्त करता है तो वह अपने आपको सम्मानित समझने लगता है। 'महत्वपूर्ण अन्य' से प्राप्त सम्मान के आधार पर व्यक्ति के 'आत्म सम्मान' का विकास होता है, इससे ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण सही दिशा में होता है।

फ्रायड का सिद्धान्त

मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रॉयड ने अपने सिद्धान्त को मानसिक क्रियाओं के आधार पर समझाया है। मानसिक क्रियाओं के आधार पर फ्रॉयड ने मस्तिष्क का तीन भागों में विभाजन किया है (1) चेतन मन (2) अवचेतन मन (3) अचेतन मन। चेतन मन में व्यक्ति के जीवन की वे घटनाएँ व क्रियाएँ सम्मिलित है जिसमें व्यक्ति जागरूक अवस्था में क्रियाएँ सम्पन्न करता है। अवचेतन मन मनुष्य के अतीत के अनुभवों व घटनाओं का भंडार है। अचेतन मन के सम्बन्ध में फ्रायड का मत है कि जिस प्रकार हिमखण्ड का अधिकांश भाग पानी में रहता है, उसी प्रकार मानव के व्यक्तित्व का एक बड़ा भाग अचेतन व अनदेखी शक्तियों द्वारा संचालित होता है। फ्रायड के अनुसार मस्तिष्क में एकत्र अनुभव व घटनाएँ व्यक्तित्व निर्माण में योगदान देते हैं।

फ्रायड ने समाजीकरण के अपने सिद्धान्त में 'स्व' को तीन भागों 'इड' (ID) 'अहम्' (Ego) और 'परा अहम्' (Super Ego) में विभाजित किया है। 'इड' व्यक्ति की समस्त मानसिक

क्रियाओं का आधार है और इसका सम्बन्ध मूल प्रवृतियों, प्रेरणाओं, असमाजीकृत इच्छाओं एवं स्वार्थों के योग से है। 'इड' के सामने अच्छे–बुरे, नैतिक–अनैतिक का कोई प्रश्न नहीं होता है। यह किसी न किसी प्रकार से सन्तुष्टि चाहता है।

'अहम्' वास्तविकता के सिद्धान्त पर काम करता है। यह 'स्व' का चेतन व तार्किक पक्ष है जो इड पर नियंत्रण रखता है तथा उसे परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करने का निर्देश देता है। यद्यपि 'अहम्' भी नैतिक–अनैतिक, प्रेम व घृणा को अधिक महत्व तो नहीं देता फिर भी 'अहम्' 'इड' से अधिक व्यावहारिक है। 'अहम्' आवश्यकता पूर्ति के लिए 'इड' से परिस्थिति अनुकूल व्यवहार करने का निर्देश देता है।

'पराअहम्' का सम्बन्ध समाज के नैतिक मूल्यों और मान्यताओं से होता है। 'पराअहम्' व्यक्ति को यह बताता है कि व्यक्ति की इच्छा पूर्ति हेतु समाज ने क्या नियम बना रखे हैं?

इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जैसे 'इड' 'ईगो' तथा 'सुपर ईगो' तीन भाई हैं। 'इड' सबसे छोटा है, ईगो मंझला तथा 'सुपर ईगो' बड़ा भाई है। छोटा भाई (इड) एक बाग में पेड़ पर लगे हुए आम देखकर खाने की इच्छा प्रकट करता है। वह किसी भी तरह आम प्राप्त करना चाहता है। मंझला भाई (ईगो) उसे समझाता है कि अभी रूको माली के इधर–उधर जाने पर आम तोड़ लेना। किन्तु बड़ा भाई (सुपर ईगो) कहता है चोरी करना पाप है। यदि आम खाना है तो पैसे देकर प्राप्त करना चाहिए, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार 'इड' तथा 'सुपर ईगो' में अन्तर्द्वन्द्व शुरू होता है। फ्रायड के अनुसार इसी प्रक्रिया में व्यक्ति जितना पराअहम् के अनुसार आचरण करता है, उतना ही उसका समाजीकरण सफल माना जाता है।

समाजीकरण के इन सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है कि समाज में रहकर ही व्यक्ति के आत्म या स्व का विकास होता है। आत्म के विकास के साथ–साथ ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है।

समाज से अलग रहकर व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य नहीं बन सकता है और न ही समाज की विभिन्न गतिविधियों में भाग ले सकता है।

व्यक्तित्व निर्माण के लिए समाजीकरण आवश्यक है। इसे समझने के लिए हम समाज से विलग रहे बच्चों के उदाहरण ले सकते हैं। रामू, कमला, अमला व कास्पर हासर नामक बच्चे विभिन्न परिस्थितियों के कारण समाज से अलग रहे। 1920 में कमला और अमला नामक दो बहिनें भेड़िये की गुफा में पाई गयी। वे भेड़िये की तरह व्यवहार करती थीं। वे खाने–पीने और उठने–बैठने की क्रिया भी भेड़ियों की तरह करती थीं। वे बोलने के स्थान पर गुर्राती थीं। रामू नामक बालक की भी यही स्थिति थी। कास्पर हासर को भी राजनीतिक कारणों से समाज से अलग रखा गया। उसका मस्तिष्क अविकसित था तथा भाषा उसकी समझ से परे थी। वह सीधा खड़ा होकर चल भी नहीं सकता था। इसी प्रकार 1956 में परशुराम नामक बच्चा भेड़ियों के समूह में पाया गया। ये सभी बच्चे समाज से पृथक रहे जिसके कारण इनका उचित समाजीकरण नहीं हो पाया और ये अपने व्यक्तित्व विकास से वंचित रहे।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि समाज में रहकर ही मनुष्य संस्कृति को सीखकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।

टालकट पारसन्स ने कहा है कि एक बच्चा उस पत्थर के समान है जो मानो जन्म के द्वारा सामाजिक तालाब में फैंक दिया जाता है। समाज रूपी तालाब में ही रहकर उसका समाजीकरण होता है। जन्म के समय बालक मात्र मानव शरीर होता है, जिसमे सीखने की क्षमता होती है।

जन्म के समय मनुष्य न तो सामाजिक प्राणी होता है न असामाजिक और न ही समाज विरोधी ही होता है। उसमें सीखने की क्षमता अवश्य होती है, जिससे व धीरे–धीरे सीखता जाता है तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।

जॉनसन ने भी कहा है कि बालक का मस्तिष्क कोमल होता है उसे जैसे चाहे वैसे मोड़ा जा सकता है।

बालक का मस्तिष्क ग्रहणशील होता है, उसे जो भी सिखाया जाए वह उसे आसानी से सीख जाता है। सीखने की ये क्षमता ही व्यक्ति को अन्य प्राणियों से अलग करती है परन्तु यह प्रक्रिया समाज से पृथक रहकर पूर्ण नहीं हो सकती है।

अन्त में, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाजीकरण मानव के लिए एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके बिना मानव जीवन अपूर्ण है। अतः मानव व्यक्तित्व के निर्माण में समाजीकरण एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- मनुष्य इसलिए मनुष्य है क्योंकि उसके पास उसकी संस्कृति है।
- टायलर ने संस्कृति को सामाजिक विरासत माना है। जिसे मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।
- भाषा, लेखन व प्रतीक ही वह माध्यम है जिसके द्वारा मानव ज्ञान का अर्जन व अर्जित ज्ञान का हस्तान्तरण कर पाता है।
- संस्कृति में सम्मिलित परम्पराएँ, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, धर्म, दर्शन, कला, भाषा, विज्ञान आदि व्यक्तिगत जीवन विधि की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज की विधि (Way of Life) को प्रदर्शित करती है।
- संस्कृति का कोई तत्त्व बेकार नहीं होता है बल्कि वह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।
- व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को निश्चित दिशा व स्वरूप प्रदान करने में संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान है।
- संस्कृति की वह सबसे छोटी इकाई जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता, सांस्कृतिक तत्व कहलाती है।

- संस्कृति के दो पक्ष होते हैं– भौतिक व अभौतिक। भौतिक पक्ष में साइकिल, पंखा, टेबल, कुर्सी, घड़ी आदि सम्मिलित है। जबकी अभौतिक पक्ष में संकेत, विचार, प्रथा, जनरीति आदि सम्मिलित है।
- सांस्कृतिक तत्वों का वह समूह जिसमें अनेक सांस्कृतिक तत्व आपस में अर्थपूर्ण ढंग से घुल–मिलकर मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो उसे संस्कृति संकुल कहा जाता है।
- सांस्कृतिक तत्वों में गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता का गुण पाया जाता है।
- समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, मानदण्डों एवं समाज– सम्मत व्यवहार को सीखता है। इसी के तहत मनुष्य अपने समाज व समूह की सामाजिक व सांस्कृतिक विशेषताओं से अनुकूलन करता है।
- व्यक्ति अपने जीवन काल में विभिन्न प्रस्थितियाँ धारण करता है तथा उन प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिकाओं का निष्पादन करना सीखता है।
- समाजीकरण जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को सीखता है।
- पारसन्स ने समाजीकरण को चार भागों में विभाजित किया है–
  (1) मौखिकावस्था (Oral stage)
  (2) शौच अवस्था (Anal stage)
  (3) आडिपल स्तर (Oedipal)
  (4) किशोरावस्था (Adolescence)
- समाजीकरण के अन्य सोपान–युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था
- समाजीकरण के प्रथम चरण में बच्चा अपने सुख–दुःख, हाव भाव आदि मुँह के माध्यम से ही प्रकट करता है इसलिए इसे मौखिकावस्था कहा जाता है।
- किशोरावस्था मानव जीवन का वह संक्रांति काल है जिसमें एक किशोर को भारी तनाव व संघर्ष का सामना करना पड़ता है।
- परिवार ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है।
- धर्म के कारण ही व्यक्ति में शान्ति, पवित्रता, नैतिकता, दया, आदर्श, ईमानदारी, न्याय आदि भावनाओं का विकास होता है।
- फ्रॉयड ने मस्तिष्क का तीन भागों में विभाजन किया है– (1) चेतन मन (2) अवचेतन मन (3) अचेतन मन।
- फ्रायड ने समाजीकरण के अपने सिद्धान्त में 'स्व' को तीन भागों 'इड' (ID) 'अहम्' (Ego) और 'परा अहम्' (Super Ego) में विभाजित किया है।
- समाज में रहकर ही मनुष्य संस्कृति को सीखकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. निम्न में से संस्कृति की कौनसी विशेषता नहीं है?
   (अ) संस्कृति सीखी जाती है।
   (ब) संस्कृति मानव निर्मित है।
   (स) संस्कृति खरीदी जाती है।
   (द) संस्कृति सामाजिक होती है।
2. संस्कृति की सबसे छोटी ईकाई कहलाती है।
   (अ) संस्कृति तत्व (ब) संस्कृति संकुल
   (स) संस्कृति प्रतिमान (द) संस्कृति क्षेत्र
3. ''समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने योग्य बनाती है'' यह परिभाषा किसने दी है?
   (अ) ग्रीन (ब) गिलिन व गिलिन
   (स) जॉनसन (द) मर्टन
4. समाजीकरण का तात्पर्य निम्न में से कौनसा है?
   (अ) समाज का एकीकरण करने की प्रक्रिया।
   (ब) संस्कृति को सीखने की प्रक्रिया।
   (स) घूमने–फिरने की प्रक्रिया।
   (द) लोगों से वार्तालाप करने की प्रक्रिया।
5. 'माइण्ड, सेल्फ एण्ड सोसायटी' पुस्तक के लेखक कौन है?
   (अ) फ्रायड (ब) कूले
   (स) वेबर (द) मीड
6. फ्रायड ने समाजीकरण का कौन सा सिद्धान्त दिया है?
   (अ) समाज में रहने का (ब) मैं और मुझे का
   (स) आत्म दर्पण दर्शन का
   (द) इड, अहम् और पराअहम् का

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. संस्कृति की कोई दो विशेषताएँ लिखिए।
2. समाजीकरण की कोई एक परिभाषा दीजिए।
3. फ्रायड ने 'प्राथमिक परिचय' की स्थिति किसे कहा है?
4. ''ह्यूमन नेचर एण्ड सोशल आर्डर'' नामक पुस्तक किसने लिखी है?
5. समाजीकरण की प्रथम पाठशाला क्या है?
6. फ्रायड के अनुसार उचित–अनुचित का ज्ञान किसके द्वारा होता है?
7. समाजीकरण की किन्ही दो द्वितीयक संस्थाओं के नाम लिखिए।
8. मानव किसके ज्ञान के कारण पशुओं से भिन्न है?
9. हर्षकोविट्स के अनुसार संस्कृति तत्वों के अर्थपूर्ण योग से क्या निर्मित होता है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. टायलर के अनुसार संस्कृति की परिभाषा लिखिए।
2. संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती है, समझाइए।
3. ''संस्कृति का कोई तत्व बेकार नहीं होता'' समझाइए।
4. समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष कैसे है?
5. आडिपस कॉम्पलेक्स और इलैक्ट्रा कॉम्पलैक्स क्या है?
6. समाजीकरण की किन्हीं दो प्राथमिक संस्थाओं को समझाइए।
7. समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती है। स्पष्ट कीजिए
8. ''दर्पण में आत्म दर्शन'' का सिद्धान्त क्या है?

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. संस्कृति को परिभाषित कीजिए। इसकी प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
2. संस्कृति के उपादानों का उल्लेख कीजिए।
3. 'संस्कृति' अधि–वैयक्तिक एवं अधि–सावयवी है। समझाइए।
4. समाजीकरण को परिभाषित करते हुए इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. समाजीकरण के विभिन्न चरणों का वर्णन कीजिए
6. समाजीकरण के फ्रायड के सिद्धान्त को समझाइए।
7. 'सामान्यीकृत अन्य' का सिद्धान्त किसने दिया है? इसका विस्तार से वर्णन कीजिए।
8. समाजीकरण की प्रमुख संस्थाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तरमाला– 1. (स) 2. (अ) 3. (स) 4. (ब) 5. (द) 6. (द)